कषाय और प्रतिक्रमण

साध्वी डॉ. अमितप्रभा

(महासती श्री उमरावकुंवर जी म.सा. 'अर्चना' की शिष्या)

अनादिकाल से आत्मा व कर्म का संबंध क्षीर-नीरवत् बना हुआ है। इसका मूल कारण कषाय है। *'संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया'*[1] अर्थात् संसार का मूल है कर्म और कर्म का मूल है-कषाय। भगवती सूत्र में कषाय और योग के निमित्त से कर्म का बंध बतलाया है। आत्मा जिसके द्वारा अपवित्र, भारी या मलिन हो रही है, उसका कारण कषाय है।

कषाय का शाब्दिक अर्थ है- कष+आय। **कष**-संसार, **आय**-वृद्धि अर्थात् संसार-भ्रमण की वृद्धि जिससे हो वह कषाय। जीव का चार गति चौरासी लाख जीवयोनि में परिभ्रमण कषाय से होता है। आत्मा के परिणामों को जो कलुषित करता है, वह कषाय है। इसके द्वारा आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप नष्ट होता है, यह आत्म-धन को लूटने वाला तस्कर है। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के षष्ट अध्ययन में गणधर सुधर्मा स्वामी ने कषाय को अध्यात्म दोष कहा है।

जैन दर्शन ने जीव के संसार-परिभ्रमण एवं सुख-दुःख की प्राप्ति में कर्म को मूल आधार माना है। कर्म के मूल भेद आठ बतलाये हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन अष्ट कर्मों में मुख्य मोहनीय कर्म है। इस मोहनीय कर्म के उदय से कषाय उत्पन्न होता है और इसके कारण आत्मा वीतराग पद को प्राप्त नहीं कर पाता। कषाय के क्षीण होने पर ही वीतराग-पद की प्राप्ति होती है। मोहनीय कर्म के मूल भेद दो हैं- दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय। उत्तर भेद अट्ठाईस हैं-

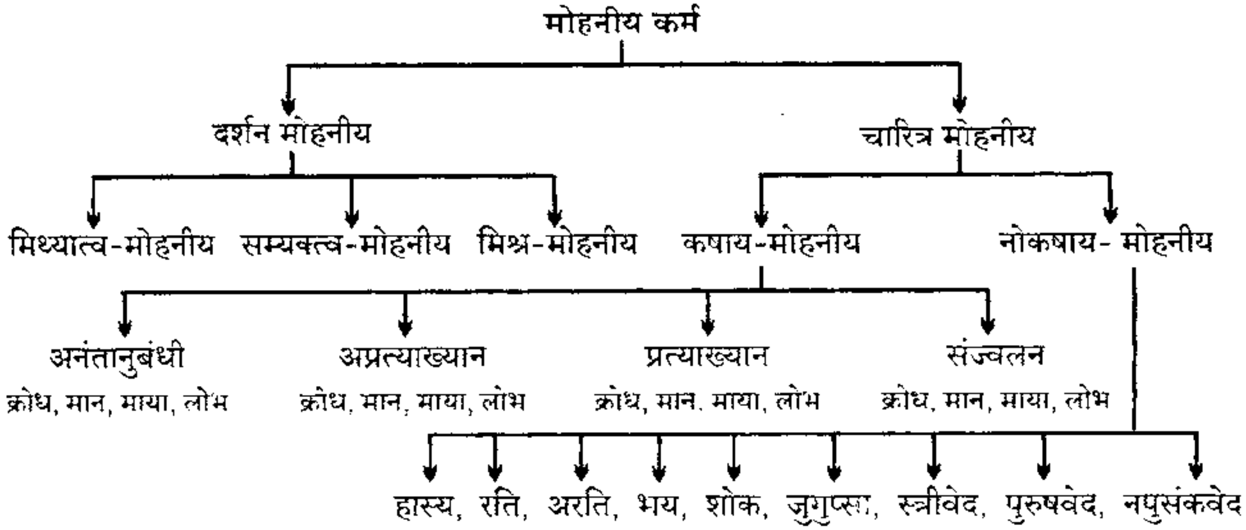

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त भेद-प्रभेदों का सारांश है कि दर्शन मोहनीय के उदय से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। समकित प्राप्ति पश्चात् चारित्र धर्म की प्राप्ति होती है। चारित्रधर्म की परिपालना में चारित्र मोहनीय कर्म साधक की साधना में बाधक है। अनंतानुबंधी-कषाय एवं दर्शन मोहनीय के रहते समकित, अप्रत्याख्यान कषाय के रहते श्रावक धर्म, प्रत्याख्यानावरण के रहते संयतपना और संज्वलन-कषाय के रहते यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता।

कषाय की उत्पत्ति का मूल कारण जानकर आत्म-स्वभाव में स्थित होने के लिये कषाय से मुक्त होना होगा। आत्मा ज्ञान का घन पिण्ड और आनन्द का केन्द्र है, अपने स्वभाव से स्वयं परिपूर्ण है। लेकिन कुछ विकृतियाँ/ विकारों के कारण विभाव दशा में आ गई है। इस विभाव दशा से स्वभाव में लौटने के लिये अनेकानेक मार्ग हैं। उनमें से एक है- प्रतिक्रमण, आत्म-शोधन या आत्म-निरीक्षण।

अध्यात्म प्रधान जिनशासन में आत्म-शुद्धि को सर्वोपरि महत्त्व प्राप्त है। प्रतिक्रमण जीवन-साधना की एक प्रक्रिया है, अध्यात्म-साधना का मूल आधार है। अपने अन्दर ही अपनी खोज को प्रतिक्रमण कहा गया है। आत्मा जब क्षयोपशम भाव से निकलकर उदय भाव में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस आत्मा को पुनः उदय भाव से हटाकर क्षायोपशमिक भाव में स्थापित करना अर्थात् सम्यक् मार्ग को छोड़कर उन्मार्गगामी बनी आत्मा को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लाना ही प्रतिक्रमण कहा जाता है-

स्वस्थानाद्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशंगतः।
तस्यैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।।

प्रतिक्रमण पर आचार्यो ने बड़ी विस्तृत व्याख्याएँ की हैं। बहुत ही सूक्ष्म व गंभीर दृष्टि से चिन्तन-मनन-विवेचन किया है। प्रतिक्रमण के दो भेद किये हैं - द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण बाह्य परिप्रेक्ष्य में मुँहपत्ति, आसन, शब्दोच्चारण, काल-विधि आदि के द्वारा किया जाता है। भाव प्रतिक्रमण अन्तर्मन से आत्मशुद्धि की भावना से किया जाता है। भाव-प्रतिक्रमण के विषयभेद की दृष्टि से स्थानांगसूत्र में पाँच प्रकार बताये हैं[2]- 'पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते तं जहा- आसवदारपडिक्कमणे, मिच्छत्तपडिक्कमणे, कसाय-पडिक्कमणे, जोगपडिक्कमणे, भावपडिक्कमणे।' साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग ये पाँच दोष माने गये हैं। साधक प्रतिदिन साधनाकाल में जानते-अजानते दोषों के प्रतिक्रमण के दौरान स्व-निरीक्षण करता है कि यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में चला गया तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमाद और शुभ योग में प्रवृत्त होना चाहिये।

स्थानांग सूत्र में वर्णित पंच-प्रतिक्रमण एवं साधनाकाल में लगे पाँच दोषों में कषाय भाव भी आत्मा को कलुषित करने वाले कहे गये हैं। कषाय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से आत्मा के उपयोग गुण या शुद्ध-स्वरूप को आच्छादित करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में भ. महावीर ने कषाय को अग्नि कहा है और उसको बुझाने के लिये श्रुत (ज्ञान), शील, सदाचार और तप रूपी जल बताया है।[3]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय के मूल भेद चार बतलाये हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। ये कषाय पुनर्जन्म रूपी बेल को प्रतिक्षण सींचते रहते हैं- 'चत्तारि कसाया सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स'[४] तथा इन चार कषायों- क्रोध, मान, माया, लोभ से क्रमशः चार प्रीति, विनय, सरलता, संतोष, सद्गुणों का नाश होता है।[५] सद्गुणों के नाश होने पर आत्मा सर्वगुण को प्राप्त नहीं करता।

जैनागम में जहाँ आत्म-गुणों के घात की चर्चा हुई है, वहाँ आत्म-गुणों के प्रकटीकरण के उपाय भी दर्शाये हैं-

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।

क्रोध को शान्ति(क्षमा) से, मान को मृदुता से, माया को ऋजुता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिये। यदि अन्तर्मन से क्षमा-शांति, मृदुता-विनम्रता, ऋजुता-सरलता, संतोष-संयम को सम्यग् रूप से धारण किया जाये तो निश्चय ही जीवात्मा कषाय रहित हो सकता है।

१. क्रोध के प्रतिक्रमण से क्षमा गुण का आविर्भाव- क्रोध आत्मा की एक ऐसी विकृति है, कमजोरी है, जिसके कारण उसका विवेक समाप्त हो जाता है। क्रोध शांति भंग करने वाला मनोविकार है। यह मानसिक अशान्ति के साथ ही वातावरण को भी कलुषित और अशान्त कर देता है। कहा गया है- 'क्रोधोदयाद् भवति कस्य न कार्यहानिः'[६] अर्थात् क्रोध के उदय में किसकी कार्यहानि नहीं होती, सभी की हानि होती है। जैन ग्रंथों में अनेकानेक महापुरुषों ने क्रोध-कषाय से अपनी भव-परम्परा बढ़ाई है, लेकिन जब स्व-विवेक से स्वयं का निरीक्षण-परीक्षण करते हैं तो स्वयं के पश्चात्ताप से संसार की यात्रा समाप्त या सीमित हो जाती है। उल्लेखनीय है चण्डकौशिक का प्रसंग। चण्डकौशिक ने अपनी विषमयी ज्वाला से अगणित राहगीरों को भस्मात् कर डाला। हजारों पैड़-पौधे, लतायें, विषैली फूंकारों से जलकर राख हो गईं। इस कारण वह भू-भाग प्राणिमात्र से शून्य हो गया। उसी विकट, भयावह स्थान पर प्रभु महावीर पधारे व बांबी के पास ध्यानस्थ हो गये। जब चंडकौशिक ने उन्हें अपने बिल के नजदीक देखा तो अपनी क्रोधित विषाक्त आँखों से तीव्र ज्वालाएँ निकालने लगा और क्रोधाविष्ट होकर डंक मारा तो दुग्ध सी श्वेत धारा बह निकली। यह अनुपम दृश्य देखकर वह आश्चर्यचकित और भ्रमित सा हो उठा। भगवान् महावीर ने 'बुज्झसि! बुज्झसि!' कहा। यह शब्द सुनकर चंडकौशिक की सुप्तावस्था जाग्रत हो उठी और तत्क्षण जातिस्मरण ज्ञान से यह अनुभव किया कि पूर्वभव के क्रोध के वशीभूत होकर मेरी यह दुर्दशा हुई। मैंने तीव्र क्रोध के कारण कितने कष्ट उठाये और इसी कारण दुर्गति को प्राप्त हुआ। वह चंडकौशिक शान्त होकर अन्तर्मन से पूर्वकृत दुष्कृत्यों का पश्चात्ताप करने लगा। भगवान् महावीर के समक्ष किये हुए पाप (क्रोध-कषाय) की क्षमायाचना की। निश्चल शांत मुद्रा में स्थिर हो गया। उसके शरीर पर कीड़ियों ने डेरे डाल दिये। शरीर को छिद्र युक्त कर दिया, पर वह क्षमा रूपी अचूक शस्त्र से क्रोध रूपी महाशत्रु को परास्त करता है, फलस्वरूप क्रोध का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण करके क्षमा-भाव धारण करके आठवें देवलोक सहस्रार स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

२. मान कषाय के शमन से मृदुता गुण- मान-कषाय से आत्म-स्वभाव में विद्यमान ऋजुता का अभाव होता है। क्रोध एवं मान दोनों द्वेष रूप हैं, लेकिन दोनों की प्रकृति में भिन्नता है। प्रतिकूलता में क्रोध का एवं अनुकूलता में मान का आगमन होता है। असफलता क्रोध और सफलता मान की जननी है। इसी कारण असफल व्यक्ति क्रोधी एवं सफल व्यक्तिं मानी होता है। ये अवस्थाएँ आत्मा को विकारमय बना देती हैं। अभिमान से विनय, सेवा, सहकारिता, मृदुता इत्यादि गुण नष्ट होते हैं। मान की उत्पत्ति के कारण तथा इससे होने वाली हानि पर चिंतन-मनन से आत्मा का पर-पदार्थों से ममत्व हटता है और साम्य भाव प्रकट होता है। 'विणय मूले धम्मे पण्णत्ते'[5] अर्थात् धर्म का मूल विनय है, इसी कारण आभ्यन्तर तप में प्रथम विनय को रखा है। मान कषाय का प्रतिक्रमण कर मृदुता गुण अपनाकर बाहुबली ने मुक्ति प्राप्त की।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सौ पुत्र तथा दो पुत्रियाँ थीं। ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी बनाया, शेष निन्यानवे पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्य देकर स्वयं आत्म-कल्याणार्थ साधना-पथ पर बढ़ गये। भरत ने पूर्व भव में चक्रवर्ती नामकर्म का उपार्जन किया था। फलस्वरूप सभी भ्राताओं को अपने अधीनस्थ करने का संदेश भिजवाया। उनमें अट्ठानवें भाइयों ने ऋषभदेव के चरणों में संयम ग्रहण कर लिया। बाहुबली ने भरत की अधीनता स्वीकार नहीं की और ज्येष्ठ भ्राता भरत के साथ दृष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध, बाहु- युद्ध में विजयी हुए। मुष्टि-युद्ध में जैसे ही बाहुबली ने भरत चक्रवर्ती पर प्रहार करने के लिए अपनी प्रबल मुष्टि उठाई लेकिन देव (शक्रेन्द्र)के मना करने पर उठी हुई ऊर्ध्व मुष्टि से स्वयं का केश-लुंचन कर लिया। वे अब श्रमण बन गये। पिता ऋषभदेव के चरण में जाने का विचार करने लगे, पर मन के किसी कोने से आवाज आई- 'वहाँ गया तो अपने से वय में छोटे, परन्तु दीक्षा वय में बड़े अपने भ्राताओं को वन्दन करना होगा।' मान-कषाय पर विजय प्राप्त न होने के कारण बढ़ते कदम मुड़ गये और एकांत शांत कानन की ओर चले, वहाँ जाकर हिमालय की भाँति अडोल, निश्चल, अटल ध्यान-मुद्रा में अवस्थित (खड़े) हो गये। पर उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। बारह माह के दीर्घ काल तक एक मुद्रा में रहने से शरीर पर मिट्टी जम गई, लताएँ लिपट गईं, पक्षियों ने घोसलें बना लिए, पर सिद्धि प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि मान-कषाय की शुद्धि नहीं हुई। ध्यानस्थ बाहुबली के कर्ण में 'वीरा म्हारा गज थकी उतरो, गज चढ्या मुक्ति नहीं होसी रे' आवाज आई। चिन्तन का प्रवाह चल पड़ा कि मैं मान रूपी गज पर चढ़ा हूँ, वे वास्तविकता को समझकर अहं भाव का प्रतिक्रमण करने लगे- मैं बाह्य राज-पाट छोड़कर संन्यस्त हो गया, लेकिन अन्तर्जगत् के राज्य रूपी मान को नहीं त्यागा। उनके इस आत्मशोधन ने अपने भीतर के अहं को नष्ट कर दिया। अशुभ भाव से शुभ भाव एवं तदनन्तर शुद्ध भावों की निर्मल धारा प्रवाहित हो उठी। नमन-वन्दन हेतु जैसे ही अपने कदम बढ़ाए उसी क्षण केवली अवस्था को प्राप्त हो गए- 'कदम बढ़ाता केवल पायो'।

३. माया प्रतिक्रमण से ऋजुता- जहाँ क्रोध और मान दोनों द्वेष के फल हैं, वहाँ माया और लोभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग के फल हैं। राग का प्रथम फल- माया, छल, कपट, झूठ, चोरी, धोखा, दगा, ठगाई आदि वृत्तियाँ हैं। इस प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सशंक बना रहता है, क्योंकि दुर्नीति प्रकट हो जाने का भय रहता है। सशंकित भयाक्रान्त मानव कदापि निराकुल नहीं रहता। ज्ञानार्णव ग्रंथ में माया कषाय को अविद्या की जन्मभूमि, अपयश का घर, पाप रूपी कीचड़ का गर्त, मुक्ति द्वार की अर्गला, नरक रूपी घर का द्वार और शील रूपी शाल वृक्ष के वन को जलाने के लिए अग्नि कहा है।' माया को मत्सर भाव कहा है। जैसे मच्छर मधुर राग कानों में सुनाकर डंक मारता है। अभिमन्यु को चक्रव्यूह में माया से ही मौत के घाट उतारा गया था। मायावी के भावों में विरूपता रहती है, लेकिन आत्मार्थी माया-कषाय का त्याग कर 'जहा अंतो तहा बाहि, जहा बाहि तहा अंतो' एकरूपता को स्वीकार करता है।

'सोही उज्जूयभूयस्स' शुद्धि ऋजुभूत (सरल) की होती है। स्पष्ट है आत्म-शुद्धि होगी तभी आत्म-सिद्धि होगी। शुद्धि के अभाव में सिद्धि प्राप्त नहीं होती। तीर्थंकरों का जन्म पुरुष के रूप में होता है, किन्तु मल्लीकुमारी (मल्लीनाथ) का जन्म महिला के रूप में होना अद्‌भुत एवं आश्चर्यजनक घटना है। इसका कारण था मल्लीनाथ भगवान् ने पूर्वभव में तप-साधना में अपने साथियों के साथ माया कषाय का आचरण किया और उसकी बाद में आलोचना (प्रतिक्रमण) नहीं की, उसके फल रूप में तीर्थंकर नाम का उपार्जन तो हुआ, पर स्त्रीलिङ्ग में उसका प्रतिफलन हुआ।

४. लोभ प्रतिक्रमण से परम संतोष- 'लोभमूलानि पापानि', 'लोभ पापों का मूल', 'लोभ पाप का बाप' है। ऐसे सूत्रों से स्पष्ट है लोभ-कषाय सबसे मजबूत कषाय है। क्रोध, मान, माया कषाय के पूर्णतः चले जाने पर भी आत्मा में पूर्ण रूप से पवित्रता प्रकट नहीं होती है। साधक चौदह गुणस्थानों में से ग्यारहवें गुणस्थान में आकर लोभ-कषाय (संज्वलन) के पुनः उदय होने पर मिथ्यात्व दशा-प्रथम गुणस्थान तक भी आ सकती है।

लोभ-कषाय की उत्पत्ति असंयम, तृष्णा, अभिलाषा, आसक्ति आदि है। बाहर से जलती हुई अग्नि को थोड़े से जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु तृष्णा रूपी अग्नि को समस्त समुद्र के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता है। ये इच्छाएँ आकाश के समान अनंत है, असीम हैं।' तृष्णा रूपी बेल के कारण जीवात्मा दुःख प्राप्त करती है। यदि यह निरासक्ति, संयम, संतोष आदि को अपने स्व-स्वभाव में लेकर आ जाये तो क्षण मात्र में परम सुख को प्राप्त करती है।

कपिल ब्राह्मण दो मासा स्वर्ण प्राप्त करने के लिए अर्द्धरात्रि में घर से निकल गया। नगर-रक्षकों ने मध्यरात्रि में घूमते देख पकड़ लिया। प्रातःकाल राजा ने अर्द्धरात्रि में राजपथ पर अकेले घूमने का वास्तविक कारण जानना चाहा तो कपिल ने निर्भयता, सरलता से स्पष्ट बात कह दी। जिससे प्रसेनजित राजा ने प्रसन्न होकर कहा- निःसंकोच जितना धन माँगो, मैं तुम्हें दूँगा। कपिल राजोद्यान में बैठकर चिन्तन करने लगा- दो मासा सोने से क्या होगा। सौ स्वर्ण मुद्राएँ, लाख, करोड़ मुद्राएँ माँग लेता हूँ। इससे भी संतुष्ट न होकर राज्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माँगने की इच्छा करता है। तृष्णा बढ़ती गई, लेकिन तृप्ति नहीं। जैसे ही अन्तर्मन में झांका की दो मासा से राज्य तक पहुँच गया फिर भी संतोष नहीं पाया। लाभ के साथ लोभ बढ़ रहा है-

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।

दो मासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥[10]

यह जानकार कपिल ब्राह्मण ज्ञानचक्षु से लोभ कषाय को हितकारी न जानकर, आत्मग्लानि पूर्वक पश्चात्ताप कर अपने भावों को परिष्कृत कर आत्म स्नान कर केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं।

कषाय के दुष्परिणाम से जीवात्मा की संसारवृद्धि होती है और अपने स्वभाव से हट जाती है। कषाय के कारण भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही तरह से संत्रस्त आत्मा दिव्य भावों में नहीं पहुँच पाती। स्वस्थान में लौटाने का एक मार्ग प्रतिक्रमण है। कषाय प्रतिक्रमण द्वारा साधक स्वयं अतीत काल में लगे दोषों का शोधन कर वर्तमान में पश्चात्ताप कर, भविष्य में नये पाप कर्म न करने का संकल्प करता है- 'छूटूँ पिछला पाप से, नया न बाँधू कोय।' आत्मशुद्धि में यदि उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो तीर्थंकर नाम कर्म का बंध हो जाता है।

आत्म-साधक अपने जीवन का कोना-कोना प्रतिक्रमण के प्रकाश से प्रकाशित करता है। प्रतिक्रमण कर लेने से आत्मा में अप्रमत्तभाव जाग्रत होकर अपूर्व आत्मशुद्धि का पथ प्रशस्त होता है और अज्ञान, अविवेक का अन्त होता है।

संदर्भ-

१. आचारांगनिर्युक्ति, १८९.
२. स्थानांगसूत्र ५/३
३. उत्तराध्ययन सूत्र २३/५३
४. दशवैकालिक सूत्र ८/४०
५. दशवैकालिक सूत्र ८/३८
६. आत्मानुशासन २१६
७. ज्ञाताधर्मकथा, १/५
८. ज्ञानार्णव, सर्ग १९, श्लोक ५८, ५९
९. उत्तराध्ययन सूत्र ९/४८
१०. उत्तराध्ययन सूत्र ८/१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org